Research Paper E-ISSN NO : 2455-295X | VOLUME : 10 | ISSUE : 3 | MARCH 2024

प्राचीन कालीन भारत की ऋषि संस्कृति में व्याप्त पर्यावरणीय नैतिकता के ऐतिहासिक संदर्भ : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

शेषा राम [1]

[1] **सहायक आचार्य (इतिहास), राजकीय महाविद्यालय अन्टाली, भीलवाड़ा, (महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय), राजस्थान।**

ABSTRACT:

सृष्टि का कण कण पर्यावरण से आवृत्त है। चारों ओर एक ऐसा चक्र निर्मित है जिसके मध्य ईश्वर के द्वारा रची गई सृष्टि विभिन्न रूपों में व्याप्त है। उस सर्वश्रेष्ठ नियन्ता ने एक-एक कण संपूर्ण वैज्ञानिकता के साथ रचा है। जिसको देखकर बड़े से बड़े बुद्धिजीवी भी हैरान हैं और उस शक्ति के आगे सहृदय नतमस्तक हैं। प्राचीनकालीन ऋषि मुनियों ने ईश्वर के इस वैशिष्ट्य को न केवल देखा-परखा बल्कि अनुभूत भी किया और इसी कारण उन्होंने सृष्टि के एक-एक तत्व और पदार्थ को पूजा हैं, उनकी उपासना की है। क्योंकि ऋषि मुनियों ने मानव सभ्यता के लिए प्रकृति और पर्यावरण की महत्ता को सूक्ष्मता के साथ जाना है।

प्राचीन काल के इतिहास को उठाकर यदि उसका चिंतन मनन किया जाए तो प्राचीनकालीन ऋषि मुनियों की जीवनशैली का भान होगा। ऐतिहासिक दृश्यों पर दृष्टि डाली जाए तो हम यही पातें हैं की सभी वैदिक ऋषि मुनियों ने प्रकृति के संवर्धन और संरक्षण को महत्त्व प्रदान किया। यूँ तो प्राचीन काल प्राकृतिक सौंदर्य से व्याप्त था। यदि ऐतिहासिक पृष्ठों पर दृष्टि डाली जाए तो प्राचीन काल का कोना कोना पर्यावरणीय संचेतना का आगार था। उस समय प्रकृति को निरंतर संरक्षण देते हुए अपने पर्यावरण की सुरक्षा की बात की जाती थी। जिसके प्रमाण हमारे वैदिक इतिहास में यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। वर्तमान में इन संदर्भों की दृष्टि से पर्यावरण को देखना, उसको सुरक्षा प्रदान करना अति आवश्यक हो गया है।

आज वैश्विक तपन 21वीं सदी की सर्वाधिक ज्वलंत समस्या है। इस समस्या की मूल वजह वातावरण में ग्रीनहाऊस गैसों का अत्यधिक संकेंद्रण है। यह तथ्य पर्यावरण परिवर्तन पर कार्य कर रही अंतर सरकारी संस्थाओं ने उद्घाटित किया है।' इस बात से विश्व के लगभग सभी वैज्ञानिक, पर्यावरण शास्त्री एवं पर्यावरण चिंतक न केवल सहमत हुए, अपितु इस बात पर भी अपनी सहमति प्रदान की, कि इस वैश्विक तपन के पीछे जिन गैसों का हाथ है, उनके उत्सर्जन का सर्वाधिक उत्तरदायी मनुष्य एवं उसकी भौतिक लिप्सा है। इसी अनुक्रम में वैज्ञानिकों ने यह भी स्वीकार किया कि यदि मनुष्य को पर्यावरण के प्रति नैतिक रूप से सचेत नहीं किया गया तो परिणाम मानवीय अस्तित्व ब्राह्मांडीय जीवन के प्रतिकूल होंगे। इन गैसों के उत्सर्जन पर प्रभावी रोक लगानी ही होगी। जिसके लिए हमें पुनः अपने ऐतिहासिक वैदिक संदर्भों की ओर दृष्टि डालनी होगी जिनमें व्याप्त नैतिक मूल्य प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण के लिए जितने प्राचीन युग में महत्वपूर्ण थे उतने ही आज भी हैं। उन्हीं प्राचीन संदर्भों पर गहन चिंतन करना प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य है।

KEYWORDS:

प्राचीन, भारत, ऋषि संस्कृति, पर्यावरणीय नैतिकता, ऐतिहासिक संदर्भ, विश्लेषणात्मक, अध्ययन।

PAPER ACCEPTED DATE:	PAPER PUBLISHED DATE:
28th March 2024	30th March 2024

प्रस्तावना:-

पर्यावरणीय नैतिकता उन नवीन नैतिक सिद्धांतों की खोज है, जो मानवीय कार्य व्यवहार का प्रकृति से संबंध स्थापित करते हैं। ये वे सिद्धांत हैं, जो उन कर्तव्यों की नींव रखते हैं, जो प्रकृति के क्षरण की भावना को समाप्त करते हैं।" संक्षेप में पर्यावरणीय नैतिकता मानवेतर दुनिया के साथ हमारे व्यवहार के सही अथवा गलत होने से संबंधित है।" पर्यावरणीय नैतिकता इस बात की चिंता करती है कि मनुष्य को एक नैतिक प्रतिनिधि के तौर पर अपने पार्थिव गृह कैसे अच्छे से रखना चाहिए। वास्तविकता में यदि देखा जाए तो नैतिकता वह गुण है जिसके माध्यम से व्यक्ति ही नहीं वरन् संपूर्ण मानव संस्कृति एक सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति करती है। अतः नैतिकता ही मनुष्य को मनुष्यता की ओर लेकर जाती है। नैतिकता के माध्यम से ही प्रत्येक मानव अपने चारों ओर के वातावरण को सौंदर्यमई बनाकर रख सकता है, जिसके वास्तविक प्रमाण हमें अपने वैदिक साहित्य में देखने के लिए मिलते हैं।

पर्यावरणीय संचेतना के बिन्दु

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि प्राचीन काल पर दृष्टिपात किया जाए तो हम देखते है कि, साठ के दशक में पारिस्थितिकी की एक शाखा के रूप में पर्यावरणीय-नैतिकता ने आकार लेना शुरू किया। मानव संस्कृति ने इस ओर अपना ध्यान केंद्रित किया और पर्यावणीय संचेतना को अपने चिंतन - मनन का केंद्रीय बिंदु बनाया। इस शाखा में समकालीन पर्यावरणीय समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण प्रदूषण के कारकों का वैचारिक आधार पर विवेचन प्रारंभ हुआ, यथा पर्यावरण ह्रास का ऐतिहासिक आधार क्या है? वह कौन सा वैचारिक आधार है, जिसकी वजह से वह 'भूल' हुई, जिसने वर्तमान में इतना भयानक रूप ले लिया। वह कौन सी विवशता रही कि, मानव ने अपनी प्रकृति और पर्यावरण को प्रदूषित करना प्रारंभ कर दिया? और उसके सौंदर्य, स्वास्थ्य व समृद्धियों को स्वतः ही नष्ट करना प्रारंभ कर दिया है। इस ओर बहुत से इतिहासकारों ने अपनी दृष्टि डाली और अनेक अध्ययन किए जिसके उपरान्त इतिहासकार 'लिन ह्वाईट' अपने पत्र 'द हिस्टोरिकल रूट्स आफ ओवर इकोलोजिकल क्राइसिस 1968' में लिखते हैं कि "'पारिस्थितिक अवनयन' वैचारिकी और औद्योगिकीकरण की समस्या है" और यह तर्क दिया कि पर्यावरणीय ह्रास की समस्या महज प्राकृतिक विज्ञान की समस्या नहीं अपितु मानवीय समस्या भी है। उनका कहना बिल्कुल सही था क्योंकि पर्यावरणीय ह्रास कोई वैज्ञानिक गतिविधि नहीं वरन् मनुष्य का भौतिकता की ओर अंधानुकरण है जिसके कारण वह निरंतर प्रकृति को आहत करता चला जा रहा है।

पर्यावरणीय नैतिकता

पर्यावरणीय नैतिकता वस्तुतः नीतिशास्त्र की एक शाखा है, जो मानवीय व्यवहार एवं प्रकृति के अंतर्संबंधों का अध्ययन करती है और यह समझाने का प्रयास करती है कि इन संबंधों के निर्धारण में नैतिकता कैसे अपनी भूमिका का निर्वहन करती है? यथार्थ तो यह है कि पर्यावरणीय नैतिकता अपनी प्रकृति के प्रत्येक तत्व के प्रति वह संचेतना है जिसमें मानव के समान ही प्रेम, सुरक्षा, समभाव, त्याग, करुणा और उपयोगिता का भाव भरा हुआ है और ये भाव ही अपने पर्यावरण के प्रति नैतिक आचरण करने की प्रेरणा देता है। नैतिक आचरण के अंतर्गत वह सारे तत्व आ जाते हैं जो एक मानव को दूसरों के प्रति सम्मान, प्रेम और आदर

करना सिखाते हैं। जब मानव मात्र के अंतर्गत अपनी प्रकृति के प्रति सम्मान, प्रेम और आदर निहित होगा तो वह अपनी प्रकृति को किसी भी दृष्टि से आहत नहीं करेगा। यह नैतिकता वैदिककालीन मनुष्यों, संस्कृतियों और साहित्य में विद्यमान थी। इसीलिए पर्यावरणीय नैतिकता यह मानकर चलती है कि, मनुष्य की तरह ही अन्य प्राणी एवं अन्य प्राकृतिक घटक भी पर्यावरण के अंग हैं। इसीलिए पर्यावरणीय नैतिकता समग्र जैवसमुदाय के सौंदर्य, स्थिरता एवं सुदृढ़ता की स्थापना पर बल देती है। अतः आवश्यक है कि, मनुष्य प्रकृति के प्रत्येक घटक जिसे वह मानवेतर जगत् भी कहता है- का सम्मान करे और उसके संरक्षण का प्रयास करे।

पर्यावरणीय संदर्भ

सामान्य रूप से देखा जाए तो पर्यावरण पञ्चमहाभूतों की एक समष्टि है और जीव इस समष्टि का एक अंश है। यही कारण है कि, पर्यावरण एवं जीव एक दूसरे पर आश्रित हैं। पर्यावरणीय नैतिकता की यह मूल स्थापना है। लेकिन विकास की अंधी दौड़ और उन्मुक्त प्रतिस्पर्धा के दौर में मनुष्य इस संबंध को विस्मृत कर चुका है। मनुष्य मानवीय सुख की लिप्सा में प्रकृति का अंधाधुंध दोहन रहा है। दूसरे शब्दों में मनुष्य प्रकृति को मानवीय सुख का साधन समझता है। वह यह नहीं जानता कि, जिस प्रकृति का वह है निरंतर शोषण कर रहा है वह प्रकृति ही उसकी संरक्षिका है, उसकी पालिका और पोषिका है। वह तो भौतिकता की अंधी दौड़ में अपनी प्रकृति को हर ओर से समाप्त करता चला जा रहा है। यह अज्ञानी पुरुष यह नहीं समझ रहा कि, प्रकृति का नाश मानव संस्कृति की समाप्ति है। पर्यावरण में जो ह्रास हुआ है, उसका मूलभूत कारण यही है। पर्यावरणीय नैतिकता 'मानवीय श्रेष्ठता' को स्वीकृत करने वाली इस अवधारणा को खंडित करती है और एक ऐसी अवधारणा को सामने रखती है, जिसमें प्रकृति के सभी घटकों के साथ सम्मानजनक व्यवहार सुनिश्चित हो सके।

जहाँ तक 'पशुओं के जीवन के संरक्षण की बात है, वैदिक समाज का प्रारंभिक स्वरूप वैसा ही है, जैसा कि, एक आदिम समाज का होता है। 'मांस' को आर्यों ने 'परमअन्न' कहकर संबोधित किया है। वस्तुतः आरंभिक आर्य अस्तित्व के संकट से जूझ रहे थे। इसलिए मांसाहार उनके दैनिक जीवन का अंग था। लेकिन इसे आर्यों की क्रूरता नहीं, विवशता के रूप में देखा जा सकता है। सभ्य समाज में भी अनेकशः ऐसी आपदाएं आई हैं, जब मनुष्य ने अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए 'मृत पशुओं' को भी अपना आहार बनाया है। इसलिए, मांसाहार को आर्यों का शौक कहना थोड़ा कठिन है क्योंकि आर्य एक किस्म की भौतिक-विवशता में जीवनयापन कर रहे थे। जैसे-जैसे आर्यों की भौतिक आवश्यकताओं की संपूर्ति के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन के ज्ञान में अभिवृद्धि हुई, वैसे-वैसे आर्य समाज के अंतःस्थल से मांसाहार, पशुबलि के विरूद्ध आवाज उठनी शुरू हो गई। उपनिषदों में यह विचार सशक्त रूप में उभरकर सामने आया। जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि, प्राचीनकालीन मानव संस्कृति ने यदि प्राकृतिक चक्र को किसी भी दृष्टि से भंग किया है तो वह उसकी विवशता थी। उसने अपने शौक अथवा महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ऐसा कदापि नहीं किया।

वैदिक साहित्य में व्याप्त पर्यावरणीय नैतिक संदर्भ

वैदिक साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि, तत्कालीन आर्य जाति में प्रकृति के प्रति एक नैतिक संचेतना व्याप्त थी। वह अपनी प्रकृति के एक-एक तत्व के प्रति निरंतर सेवा भाव से युक्त थे। जिस प्रकार एक साधारण मनुष्य देवताओं की स्तुति करता है, उन्हें आदर सम्मान देता है उसी प्रकार आर्य जातियां भी प्रकृति के प्रत्येक अंग की पूजा, स्तुतियां करती थीं। जिनके स्पष्ट प्रमाण वैदिक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। वहाँ प्रकृति के प्रत्येक तत्व को सूक्त के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। जिनमें मंत्रों के द्वारा उन प्राकृतिक तत्वों को पूजा गया है। उनकी विशिष्टताओं का वर्णन किया गया है। उनकी प्रशंसा की गई है तथा उनसे निरंतर अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखने की प्रार्थनाएँ की गई हैं। एक स्थल पर आरोग्यकारी जल देवता से प्रार्थना की गई है कि, वह मानव शरीर के अंतर्गत अनंत काल तक सूर्य को देखने के लिए असीम ऊर्जा व औषधि को भर दें-

"अपो देवी रूप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः सिन्धुभ्यः कत्व हविः।
अप्ठसु अंतः अमृतम् अपाम उत प्रऽशस्तये देवा भवत वाजिनः॥
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम् ज्योक् च सूर्यम् दृशे।
इदमाहः प्र वहत् यत्किं चं दुरितं मयि।
यत् वा अहम् अभिऽदुद्रोह यत् वा शेपे उत अनृतम्" ॥

इन सभी तथ्यों से यह निष्कर्ष सामने आता है कि, प्रकृति के अन्य घटकों के प्रति आर्य अत्यंत उदार एवं नैतिक थे। वस्तुतः आर्य निरंतर प्रकृति के संपर्क में रहे। प्राकृतिक शक्तियों की उत्पादन क्षमता ने न केवल उनके 'आहार' संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण किया, वरन् उनके जीवन के प्रत्येक 'क्षण' को आनंद से परिप्लावित भी किया। इस संपर्क ने आर्यों के भावनात्मक स्तर को प्रभावित किया। कई बार आर्यों ने प्रकृति के प्रति अपनी भावनात्मकता को रक्त संबंधों की परिभाषा में बाँधने की कोशिश की। 'भूमि' आर्यों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भूमि उनके लिए निवास स्थली थी, यज्ञस्थली थी एवं उनके आहार संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करती थी। इसीलिए भूमि के प्रति आर्य अत्यंत नैतिक थे। भूमि को माँ' संबोधित करने की परंपरा ऋग्वेद से शुरू हो जाती है। "तन्मातापृथिवी तत्पिता द्यौ"- ऋग्वेद। अथर्ववेद में आर्य उद्घोषित करते हैं कि पृथ्वी हमारी माँ है और हम पृथ्वी के पुत्र हैं- "माताभूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या" – अथर्ववेद।

पर्यावरणीय नैतिकता एक विचारधारा के रूप में बीसवीं सदी के सातवें दशक में स्थापित हुई। वस्तुतः 1970 में बुखारेस्ट में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में विभिन्न पर्चे पढ़े गये। इनमें से कुछ वैचारिक रूप से रूढ़िवादी और कुछ अत्यंत क्रांतिकारी थे। बुखारेस्ट के रूढ़िवादी विचारकों का अभिमत था कि पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान सामाजिक-राजनीतिक बदलाव किए बिना केवल यांत्रिकी एवं प्रबंधन से संभव है।" अर्नेनेस ने इस रूढ़िवादी मत का खंडन किया। उसने एक रेडिकल पत्र प्रस्तुत किया। इस पत्र ने पर्यावरणीय-नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में मानव केंद्रित नैतिकता को अनुचित बताया। वियांड द लैण्डएथिक्स नामक पत्र में यह तथ्य उद्घाटित किया गया कि वर्तमान पर्यावरणीय समस्याएं अतिशय तकनीकि और औद्योगिकीकरण का परिणाम है।"

1960 का दशक प्रगतिशीलता का दशक था। जिसने मनुष्य का मानवेतर दुनिया से भावनात्मक संबंध स्थापित करने पर बल दिया। इसी समय 1961 में अमेरिकन लेखक जॉन म्योर एवं पर्यावरणविद् डेविड ब्राउर ने एक पत्र प्रकाशित किया। इसका शीर्षक था- विल्डरनेस अमेरिकन लिविंग हेरिटेज। इस पत्र ने प्राकृतिक सौंदर्य के संरक्षण की आवश्यकता की तरफ लोगों का ध्यानाकर्षण किया। इस पत्र ने प्राकृतिक सौंदर्य को अमेरिका की विरासत के रूप में चिन्हित किया।

साठ के दशक में स्पष्ट तौर पर पारिस्थितिकी की शाखा के रूप में 'पर्यावरणीय-नैतिकता का सिद्धांत उभरा। पारिस्थितिकी समस्याएं क्यों है- इस समस्या का दो दृष्टिकोण से विवेचन किया गया। एक दृष्टिकोण जिसे पर्यावरणवाद कहते हैं, के अनुसार मानवीय जीवन को प्राकृतिक दुनिया के परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए। इसीलिए पर्यावरणवाद जीवन की गुणवत्ता को आर्थिक-संस्कृति से अधिक महत्त्वपूर्ण माना। इसीलिए, पर्यावरणवादियों ने पर्यावरण प्रदूषण का जबरदस्त विरोध किया। इसमें प्रदूषण नियंत्रण ही नहीं, अपितु नए वृहद् स्तरीय औद्योगिक विस्तार और परमाणु ऊर्जा जैसे कार्यक्रमों का भी विरोध किया गया।

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार पर्यावरण ह्रास की समस्या मनुष्य एवं प्रकृति के 'गलत बोध की समस्या भर नहीं है, अपितु 'मनुष्य एवं प्रकृति के संबंध की गलत समझ के कारण है। मनुष्य एवं प्रकृति के बीच संबंध की परम्परागत व्याख्या ही गलत है। इस धारा को पारिस्थितिकी कहा गया। इसका सर्वप्रथम प्रयोग आर्नेनस ने किया था। यह एक रेडिकल विचार है। यह विचार पर्यावरणवाद से भी आगे जाकर मनुष्य और मानवेतर दुनिया के समक्ष अनेक गंभीर प्रश्न उठाता है और इसी परिप्रेक्ष्य में 'पर्यावरणीय नैतिकता की आधारशिला रखता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि, 1970 में हुए बुखारेस्ट सम्मेलन में दो विचार प्रस्तुत किये गये थे। उदारवादी मानते थे कि पर्यावरण संरक्षण के निहितार्थ यांत्रिकीय और प्रबंधकीय सुधार ही पर्याप्त है। उसी सम्मेलन में आर्नेनस ने उसका विरोध किया। यहाँ उन्होंने एक पत्र प्रस्तुत किया, जिसके माध्यम से समग्रतावादी पर्यावरणीय-नैतिकता का मार्ग प्रशस्त हुआ। अपनी पुस्तक 'द शैलोएंड डीप इकोलोजिकल मूवमेंट में उन्होंने पारिस्थितिकी की व्याख्या करते हुए दो प्रकार की पारिस्थितिकीय चिंतन की बात की. जिसे गहन और विरल पारिस्थितिकी में वर्गीकृत किया। विरल पारिस्थितिकी (shallow ecology) पाश्चात्य मानवकेंद्रित विचार का ही विस्तारित रूप है। क्योंकि प्रथम तो, इस विचार में पर्यावरणीय ह्रास के निदान की बात भी महज मानव-कल्याण को ध्यान में रखकर किया गया है। द्वितीय, इसमें समस्त पर्यावरणीय प्रदूषण को तकनीकि आधार पर सही करने की बात है।

ऋषि संस्कृति में व्याप्त पर्यावरणीय नैतिकता के ऐतिहासिक संदर्भ

वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से पर्यावरणीय चेतना को लेकर अनेक प्रकार के तथ्यात्मक संदर्भ यत्र तत्र प्रकीर्ण हैं। वेदों में ऋषि मुनियों ने प्रकृति को पर्जन्य, सूर्य, नदी, सरिता, ऊषा, वाक्, सुमेरु, आदित्य, पृथ्वी, द्यौस आदि विभिन्न नामों से न केवल पुकारा हैं वरन उन सभी के प्रति अपनी हृदयस्थ भावनाओं को छंदोबद्ध मंत्रों में अभिव्यक्त भी किया है। इन सबके पीछे मुख्य कारण पर्यावरणीय संचेतना है, पर्यावरण के प्रति नैतिक जागरूकता है। लेकिन प्रकृति की उपासना करने वाले वैदिक मुनियों को पर्यावरण एवं उसके समस्त स्वरूपों का भली भाँति व्यापक ज्ञान था। जिस कारण उन्होंने प्रकृति का कौन सा तत्व इस किस रूप में संरक्षित किया जा सकता है? और उसके महत्त्व के अनुसार किस प्रकार उसके प्रति नैतिकता को संरक्षित करना है? इन सब को जानते थे। अतः उसी के अनुरूप वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक तत्वों के प्रति अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है।

संभवतः ऋग्वेद का दसवाँ मंडल किसी पर्यावरणीय स्तर की बात करता है, जिसके लिए वैदिक मुनि 'महत् उल्ब शब्द का प्रयोग करते थे।"

महत्तदुत्वम् स्थविरं तदासीद्येनाविष्टिटी प्रविवो शिथापः।

विश्वाऽपश्यद्बहुधा ते अग्ने जात् वेदास्तन्वो देव एकः ॥

वैदिक काल एकऐसा युग रहा होगा, जब पर्यावरण का अवनय संभवतः था ही नहीं। इसके बावजूद वैदिक मनीषी प्रकृति जैसी मानवेतर दुनिया को महत्त्व प्रदान करते हैं। संभवतः उन्हें पता था कि यदि पर्यावरण के संतुलन को बनाये रखना है, तो मनुष्य, पशु एवं पर्यावरण के आपसी सामंजस्य को बनाए रखना होगा। अतः वैदिक परंपरा में पर्यावरणीय नैतिकता के वो तत्त्व प्राप्त होते हैं, जिसे वैश्विक दुनिया ने तब स्वीकृत किया, जब पर्यावरण का महान संकट उद्भूत हो गया। वैदिक परंपरा में कभी भी प्रकृति को तुच्छ नहीं माना, बल्कि उन्होंने प्राकृतिक घटकों की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसकी उपासना पर बल दिया।

ऋग्वेद की एक ऋचा के माध्यम से प्राकृतिक महत्त्व को वर्णित करते हुए कहा गया है कि, प्रकृति के अंग आकाश का मात्र एक बार ही जन्म हुआ है, पृथ्वी का भी उद्भव एक ही बार हुआ है, ऋषि पृश्नि ने भी एक ही बार दूध को दुहा है। इन तत्वों के जैसा दूसरा कोई पुनः नहीं जन्मता। यदि यह पृथ्वी पुनः जन्म लेने वाली नहीं है तो निश्चित ही संपूर्ण मानव संस्कृति को इसका संरक्षण करना चाहिए –

"सकृत ह द्यौ अजायत सकृत भूमिः अजायत पृश्न्या

दुग्धम् सकृत पयः तत् अन्यः न अनुं जायते"।

ऋग्वेद में सुभाषितों कृ बाद अन्न, जल और पृथ्वी को तीन रत्नों के रूप में अभिहित किया गया है- पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ॥

ऋग्वेद में जल को महत्वशाली बताते हुए उसकी तुलना माता से की गई है और कहा गया है जिसप्रकार एक माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है और उन्हें नैतिक व पवित्र बनाती है ठीक उसी प्रकार से पवित्र जल भी मानव हृदय को पवित्र और शुद्ध बनाकर उसे उन्नतिशील बनाता है-

"आपो अस्मान्तरः शुधयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।

विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतएमि" ॥

इस प्रकार यदि वैदिक स्रोतो का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए, तो पर्यावरणीय नैतिकता के सभी तत्त्व यहाँ पूर्व रूप से विद्यमान मिलते हैं। जो ऐतिहासिक रूप से भारत की प्राचीन संस्कृति पर्यावरणीय नैतिकता एवं संचेतना को प्रमाणित करते हैं।

निष्कर्ष

वस्तुतः आर्य प्रकृतिवासी थे। उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा अरण्यो, पर्वतों के सानिध्य में व्यतीत हुआ। इसीलिए उन्होंने 'प्रकृति' के महत्त्व को समझा। इसीलिए उनकी ऋचाओं में प्रकृति के विभिन्न घटकों के प्रति उपास्य भाव दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति को निर्मूल बनाए रखने का यह विचार 'मधुवाता ऋतायते के उनके उद्घोष से भी सिद्ध होता है। मानवीय आचरण यदि ऋतानुसार हो जाए, तो यह जगत् मनुष्य के लिए मधुमय हो जाए। वस्तुतः ऋत् मनुष्य के आचरण को नियमित करता है, ताकि प्रकृति में कोई क्षरण पैदा न हो।

लेकिन, पाश्चात्य संस्कृति के उन्माद में मनुष्य एवं प्रकृति का यह अन्योन्याश्रित संबंध विस्मृत कर दिया गया है। मनुष्य का हित ही सब कुछ हो गया। मनुष्य का हित सबसे बड़ी नैतिकता बनकर उभरा, जिसमें प्रकृति उपाश्रित बनकर रह गई। वर्तमान पर्यावरणीय संकट इसी विकृत नैतिकता की देन है। इसीलिए इस संबंध को पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है। उन स्रोतों को अन्वेषित करने की आवश्यकता है, जो वेदों में सदियों से संरक्षित है।

REFERENCES

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण- प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, 1964.

2. कुमार, शशिप्रभा भारतीय संस्कृति विविध आयाम, विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996.

3. गुप्त, परमेश्वरीलाल प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (खण्ड-1) सं० विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996.

4. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद (अनुवादक नरेन्द्र व्यास) प्राचीन भारत में विज्ञान और समाज, प्रथम हिन्दी संस्करण, 2001.

5. थपलियाल, किरण कुमार वैदिक संस्कृति, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद, 2002.

6. जाटव, बी०एल० पर्यावरण और शिक्षा, शैक्षणिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सूचनात्मक पर्यावरण, राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004

7. चौबे, ब्रज बिहारी-वेद और लोकजीवन, संज्ञान वैदिक अध्ययन एवं शोध केन्द्र, होशियारपुर, प्रथम संस्करण, 2006

8. द्विवेदी, कैलाश नाथ वैदिक भूगोल, सप्तसैन्धव प्रदेश, रचना प्रकाशन, जयपुर, संस्करण, 2009.

9. त्रिवेदी, वेनु, श्रीवास्तव, वी०के०-पर्यावरण एवं सामाजिक सरोकार, प्रो० कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011.